महाभारतकालीन समाज

महाभारतकालीन समाज

मूल लेखक

सुखमय भट्टाचार्य

अनुवादिका

पुष्पा जैन

प्रस्तावना

डॉ० मोतीचन्द

लोकभारती प्रकाशन

१५-ए, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद-१

लोकभारती प्रकाशन
१५-ए, महात्मा गांधी मार्ग
इलाहाबाद-१ द्वारा प्रकाशित

•

प्रथम संस्करण १९६६

•

•

सम्मेलन मुद्रणालय
प्रयाग

मूल्य २५.००

लेखकीय भूमिका

शक संवत १८५९ में मैं विश्वभारती के शोधकार्य में नियुक्त हुआ था। कविगुरु रवीन्द्रनाथ के निर्देशानुसार महाभारत में वर्णित तत्कालीन सामाजिक आचार-व्यवहार पर शोधकार्य शुरू किया। कुछ प्रबंध लिखे जा चुके तो कविगुरु ने 'शिक्षा' नामक प्रबंध देखने की इच्छा प्रकट की। इस प्रबंध को पढ़कर उन्होंने उस पर दो मन्तव्य लिखे, जो इस ग्रंथ के 'शिक्षा' प्रबंध की पादटीका में उद्धृत किये गये हैं।

रवीन्द्रनाथ की मृत्यु के उपरान्त शक संवत १८६८ के वैशाख महीने में ये सब संकलित प्रबंध बंगला भाषा के ग्रंथ रूप में 'महाभारतेर समाज' के नाम से प्रकाशित हुए। यह ग्रंथ 'विश्वभारती साज ग्रंथमाला' के अन्तर्गत आ जाता है।

शक संवत १८८१ के कार्तिक महीने में ग्रंथ का द्वितीय संस्करण प्रकाशित हुआ। बंगाली पाठक पाठिकाओं ने इस ग्रंथ को सादर ग्रहण करके मेरे श्रम को सार्थक बना लिया।

महाभारत भारतीय सभ्यता के प्राचीनकाल का इतिहास होने के साथ-साथ हिन्दुओं का धर्मग्रंथ भी है। स्वयं वेदव्यास ने इसे पंचम वेद कहा है। विषयवस्तु की गुरुता एवं आकृति की विशालता में यह ग्रंथ संसार का अद्वितीय ग्रंथ है। इसकी उपमा ढूँढे नहीं मिलती। समुद्र के समान यह ग्रंथ स्वयं ही अपनी उपमा है। मनुष्य जीवन की ऐसी कोई अवस्था नहीं है, जिस पर महाभारत के दृष्टान्त या उपदेश लागू न होते हों। स्वयं ग्रंथकार ने इस ग्रंथ के संबंध में जो कुछ कहा है, उसी से इसका काफी परिचय मिल जाता है—

> धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ।
> यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न क्वचित॥ आदि २।३९०

"जो महाभारत में नहीं है वह भारत में नहीं है" यह प्राचीन उक्ति व्यास-वचन की प्रतिध्वनि मात्र है। यह हम पहले ही कह चुके हैं कि महाभारत प्रधानतः इतिहास होते हुए भी भारतवर्ष का श्रेष्ठ धर्मग्रंथ है। अध्यात्मशास्त्र के रूप में भी इसकी तुलना का दूसरा ग्रंथ नहीं मिलता। उपनिषद् व दर्शन आदि के चरम तत्व की आलोचना महाभारत में ही सर्वापेक्षा अधिक हुई है। इसके अन्तर्गत वर्णित 'श्री-

मद्भगवद्गीता 'सनत्सुजातीय 'भागवत आदि अंशों की तुलना भी किसी दूसरे अध्यात्मशास्त्र से नहीं की जा सकती। महाभारत का आदर हर सम्प्रदाय ने सिर झुकाकर किया है। यद्यपि कौरव पाण्डवों के युद्ध को लेकर ही महाभारत की रचना हुई है तथापि युद्ध का वर्णन इसका गौण उद्देश्य रहा है। ऐतिहासिक घटनाओं एवं उपाख्यानों के माध्यम से मनुष्य की हर अवस्था में पथप्रदर्शन तथा सत्य का प्रचार ही महाभारत का प्रधान उद्देश्य है।

रवीन्द्रनाथ ने कहा है— देश में जो विद्या जो चिन्तनधारा इधर उधर विक्षिप्त थी यहाँ तक कि कहीं कहीं लुप्तप्राय हो गई थी, उसको संग्रह करके सहेज करने की दृढ़ भावना किसी समय पूरे देश में जाग्रत हुई थी। अपने आत्मविश्वास के युग व्यापी ऐश्वर्य को यदि अच्छी तरह न समझा जाय तो वह अनादृत व अपरिचित रहने के कारण क्रमशः क्षीण होकर विलुप्त हो जाता है। किसी काल में इसी आशंका ने देशभर में चेतना की एक लहर ला दी थी और फिर अपने सूत्रछिन्न रत्नों को पुनः ढूँढ कर इकट्ठा करके फिर से सूत्रबद्ध करने की एवं उसे हर काल के हर व्यक्ति के व्यवहार के लिए उत्सर्ग करने की एक प्रबल इच्छा व्याप्त हो गई थी। अपनी विराट चिन्मयी प्रवृत्ति को फिर से समाज में साक्षात प्रतिष्ठित करने के लिए देश उत्सुक हो उठा था। जो विषय केवल कुछ विशिष्ट पंडितों के अधिकार में था उसे अखण्ड रूप में जनसाधारण के समक्ष रखने का यह एक आश्चर्यजनक अध्यवसाय था। इसके अन्दर एक प्रबल चेष्टा, अविश्रान्त साधना एवं एक सम्पूर्ण दृष्टि थी। इस प्रयत्न की महिमा को शक्तिमयी प्रतिभा ने अपना लक्ष्य बनाया था इसका स्पष्ट प्रमाण 'महाभारत' नाम में मिलता है। महाभारत के महत उज्ज्वल रूप को जिन्होंने अपनी कल्पना में देखा था उन्होंने 'महाभारत' नामकरण किया था। वह रूप काल्पनिक होने के साथ साथ भौमण्डलिक भी था। उन्होंने भारतवर्ष की आत्मा को अपनी आत्मा के अन्दर देखा था। उसी विश्वदृष्टि के प्रबल आनन्द में उन्होंने भारतवर्ष में चिरकाल तक स्थायी रहनेवाली शिक्षा की प्रशस्त भूमि तैयार कर दी। वह शिक्षा धर्म कर्म, राजनीति तत्वज्ञान आदि के रूप में बहुव्यापक रही। उसके बाद से भारतवर्ष ने अपने निष्ठुर इतिहास के हाथों आघात पर आघात सहे, उसकी मर्मग्रंथि, बार-बार विश्लिष्ट हुई, दैन्य एवं अपमान से वह जर्जर हो गया, किन्तु इतिहास विस्मृत इस युग की उस कीर्ति ने ही अब तक लोक शिक्षा की जलसिंचन प्रणाली को अनेक धाराओं द्वारा पूर्ण व सचल कर रखा है। गांव गांव में घर घर में आज भी इसका प्रभाव विद्यमान है। उस मूल उद्गम से यदि शिक्षा की यह धारा निरन्तर प्रवाहित न होती रहती तो दुःख दारिद्र्य व असम्मान से यह देश मनुष्यता की वर्वरता के अंधकूप में विसर्जित कर देता।

भारतवर्ष में महाभारतीय विश्वविद्यालय के जिस युग का उल्लेख मैंने किया है, उस युग में तपस्या थी, इसलिए उसका लक्ष्य संहार करना नहीं था, उसका उद्देश्य था सर्वजनीन चित्त का उद्दीपन उद्भावन और चरित्रनिर्माण'[1]।

उन्होंने अन्यत्र कहा है—"ऐसा प्रतीत होता है मानो गंगा और हिमालय की तरह ही रामायण और महाभारत भारतवर्ष के अंग ही हैं। वाल्मीकि और व्यास उपलक्ष्य मात्र हैं। भारत की धारा ने इन दो महाकाव्यों में अपनी कथा व संगीत को बचाये रक्खा है। रामायण और महाभारत भारतवर्ष के चिरकालीन इतिहास हैं। एकान्तचित्त होकर श्रद्धा सहित विचार करना चाहिये कि हजारों वर्षों से सम्पूर्ण देश ने इन ग्रंथों को किस रूप में ग्रहण किया है। मैं चाहे कितना भी बड़ा समालोचक क्यों न होऊँ किन्तु यदि सम्पूर्ण देश की इतिहास प्रवाहित सर्वकालीन विचारधारा के आगे यदि मेरा मस्तक नत न हो तो वह औद्धत्य लज्जा का कारण है। रामायण और महाभारत को भी मैं विशेषतया इसी प्रकार देखता हूँ। उनके सरल अनुष्टुप छंद में भारतवर्ष का हृत्पिण्ड हजारों वर्षों से धड़कता आया है"।

कविगुरु की इस सम्बद्ध समीक्षा के बाद महाभारत के संबंध में और कुछ कहने के लिए नहीं रह जाता। हम तो इस कालजयी ग्रंथ के सौंदर्य पर मुग्ध व विस्मित होकर केवल इसके रचयिता ऋषि कवि के चरणों में अपना प्रणाम निवेदित करते हैं—

नमः सर्वविदे तस्मै व्यासाय कविवेधसे।

प्राच्य पंडितों का सिद्धान्त है कि कौरव पांडवों का युद्ध ईसा के जन्म से ३१०१ वर्ष पूर्व हुआ था और परीक्षित के शरीर-त्याग के बाद जनमेजय के सर्पसत्र में पहले महाभारत की रचना हुई थी। अर्थात् ईसा से ३०४१ वर्ष पूर्व महर्षि कृष्ण द्वैपायन ने महाभारत की रचना शुरू की और तीन साल में यह रचना पूर्ण हुई। पाश्चात्य पंडितों ने महाभारत को २००० वर्ष बाद का ग्रंथ माना है। इस संबंध में प्राच्य पंडितों का अभिमत ठोस तर्क व प्रमाणों पर आधारित है। महाभारत में आये ज्योतिष-वचनों की सहायता से भी उनके सिद्धान्त का प्रतिपादन होता है। खोज के इच्छुक पाठक पाठिकाओं को भारताचार्य, महामहोपाध्याय श्रीयुत हरिदास सिद्धान्तवागीश महाशय के महाभारत की भूमिका में इन विषयों पर बहुत से तथ्य मिल सकते हैं।

उपाख्यान के भाग को मिलाकर महाभारत की श्लोकसंख्या एक लाख है और उसे छोड़कर चौबीस हजार। महाभारत का संक्षिप्त वृत्तान्त या सूची

---

१ 'प्राचीन साहित्य'।

मदभगवद्गीता 'सनत्सुजातीय' 'मोक्षधर्म' आदि अंशों की तुलना भी किसी दूसरे अध्यात्मशास्त्र से नहीं की जा सकती। महाभारत का आदर हर सम्प्रदाय ने सिर झुकाकर किया है। यद्यपि कौरव पाण्डवों के युद्ध को लेकर ही महाभारत की रचना हुई है तथापि युद्ध का वर्णन इसका गौण उद्देश्य रहा है। ऐतिहासिक घटनाओं एवं उपाख्यानों के माध्यम से मनुष्य को हर अवस्था में पथप्रदर्शन तथा सत्य का प्रचार ही महाभारत का प्रधान उद्देश्य है।

रवीन्द्रनाथ ने कहा है— देश में जो विद्या, जो चिन्तनधारा इधर उधर निक्षिप्त थी यानी तट कि यहाँ-वहाँ लुप्तप्राय हो गई थी उनका संग्रह करके सहेत करने की दृढ़ भावना किसी समय पूरे देश में जाग्रत हुई थी। अपने आत्मतत्व के युग व्यापी ऐक्य को यदि अच्छी तरह न समझा जाय तो वह अनादृत व अपरिचित रहने के कारण क्रमशः जीर्ण होकर विलुप्त हो जाता है। किसी काल में इसी आशंका ने देशभर में चेतना की एक लहर ला दी थी और फिर अपने सूत्रच्छिन्न रत्नों को पुनः एक बार एकत्रित करके फिर से सूत्रबद्ध करने की एवं उसे हर काल व हर व्यक्ति के व्यवहार के लिए उपलब्ध करने की एक प्रबल इच्छा व्याप्त हो गई थी। अपनी विराट चिन्मयी प्रवृत्ति को फिर से समाज में साक्षात प्रतिष्ठित करने के लिए देश उत्सुक हो उठा था। जो विषय केवल कुछ विशिष्ट पंडितों के अधिकार में था उसे अखंड रूप में जनसाधारण के समक्ष रखने का यह एक आश्चर्यजनक अध्यवसाय था। इसके अन्दर एक प्रबल चेष्टा, अक्लान्त साधना एवं एक सम्पूर्ण दृष्टि थी। इस प्रयत्न की महिमा को शक्तिमयी प्रतिमा ने अपना लक्ष्य बनाया था, इसका स्पष्ट प्रमाण 'महाभारत' नाम में मिलता है। महाभारत के महत उज्ज्वल रूप को जिन्होंने अपनी कल्पना में देखा था उन्होंने महाभारत नामकरण किया था। वह रूप काल्पनिक ज्ञान के साथ साथ मामलिक भी था। उन्होंने भारतवर्ष की आत्मा को अपनी आत्मा के अन्दर देखा था। उसी निश्चदृष्टि के प्रबल आनन्द में उन्होंने भारतवर्ष में चिरकाल तक स्थायी रहनेवाली शिक्षा की प्रशस्त भूमि तैयार कर दी। वह शिक्षा, धर्म, कर्म, राजनीति, तत्वज्ञान आदि के रूप में बहुव्यापक रही। उसके बाद से भारतवर्ष ने अपने निष्ठुर इतिहास के हाथों आघात पर आघात सहे, उसकी समग्रता बार-बार विच्छिन्न हुई, दैन्य एवं अपमान से वह जर्जर हो गया, किन्तु इतिहास विस्मृत इस युग की उस कीर्ति ने ही अब तक लोक शिक्षा की जर्जरित प्रणाली को अनेक धाराओं द्वारा पूर्ण व सचल कर रखा है। गाँव-गाँव में घर घर में आज भी इसका प्रभाव विद्यमान है। उस मूल उद्गम से यदि शिक्षा की यह धारा निरन्तर प्रवाहित न होती रहती, तो दुःख दारिद्र्य व असम्मान से यह देश मनुष्यता की चरमता के अंधकूप में विसर्जित कर देता।

भारतवर्ष में महाभारतीय विश्वविद्यालय के जिस युग का उल्लेख मैंने किया है, उस युग में तपस्या थी, इसलिए उसका लक्ष्य प्रचार करना नहीं था। उसका उद्देश्य था सर्वजनीन चित्त का उद्दीपन, उद्भावन और चरित्रनिर्माण'।

उन्होंने अन्यत्र कहा है—"ऐसा प्रतीत होता है मानो गंगा और हिमालय की तरह ही रामायण और महाभारत भारतवर्ष के ही हैं। वाल्मीकि और व्यास उपलक्ष्य मात्र हैं। ... भारत की धारा ने इन दो महाकाव्यों में अपनी कथा व संगीत को बचाये रखा है। ... रामायण और महाभारत भारतवर्ष के चिरकालीन इतिहास हैं। ... एकान्तचित्त होकर श्रद्धा सहित विचार करना चाहिए कि हजारों वर्षों से सम्पूर्ण देश ने इन ग्रंथों को किस रूप में ग्रहण किया है। मैं चाहे कितना भी बड़ा समालोचक क्यों न होऊँ, किन्तु यदि सम्पूर्ण देश की इतिहास प्रवाहित सर्वकालीन विचारधारा के आगे यदि मेरा मस्तक नत न हो तो वह औद्धत्य लज्जा का कारण है। ... रामायण और महाभारत को भी मैं विशेषतया इसी प्रकार देखता हूँ। इनके सरल अनुष्टुप छन्द में भारतवर्ष का हृत्पिण्ड हजारों वर्षों से धड़कता आया है"।[1]

कविगुरु की इस स्पष्ट समीक्षा के बाद महाभारत के संबंध में और कुछ कहने के लिए नहीं रह जाता। हम तो इस कालजयी ग्रंथ के सौंदर्य पर मुग्ध व विस्मित होकर केवल इसके रचयिता ऋषि कवि के चरणों में अपना प्रणाम निवेदित करते हैं—

नमः सर्वविदे तस्मै व्यासाय कविवेधसे।

प्राच्य पंडितों का सिद्धान्त है कि कौरव पांडवों का युद्ध ईसा के जन्म से ३१०१ वर्ष पूर्व हुआ था और परीक्षित के शरीर-त्याग के बाद जनमेजय के सर्पसत्र में पहले महाभारत की रचना हुई थी। अर्थात् ईसा से ३०४१ वर्ष पूर्व महर्षि कृष्ण द्वैपायन ने महाभारत की रचना शुरू की और तीन साल में यह रचना पूर्ण हुई। पाश्चात्य पंडितों ने महाभारत को २००० वर्ष बाद का ग्रंथ माना है। इस संदर्भ में प्राच्य पंडितों का अभिमत ठोस तर्क व प्रमाणों पर आधारित है। महाभारत में [illegible] ज्योतिष-वचनों की सहायता से भी उनके सिद्धान्त का प्रतिपादन होता है। [illegible] के इच्छुक पाठक पाठिकाओं को भारताचार्य, महाभारत [illegible] सिद्धान्तवागीश महाशय के महाभारत की भूमिका में इस विषय [illegible] मिल सकते हैं।

उपाख्यान के भाग को मिलाकर महाभारत की [illegible] और उसे छोड़कर चौबीस हजार। महाभारत का [illegible]

---

१ 'प्राचीन साहित्य'।

अनुक्रमणिका अध्याय मे (आदि १ला अध्याय) डेढ सौ श्लोको मे वर्णित है।

इस विशाल ग्रथ की रचना करके महर्षि व्यास ने सर्वप्रथम अपने पुत्र शुक को यह पढाया, तदुपरान्त पैल, सुमन्त जमिनी और वैशम्पायन —इन चा शिष्यों को इसकी शिक्षा दी। आदिपर्व के प्रथम अध्याय मे इन विषयो का विस्त वर्णन हुआ है।

महाभारत का प्रथम प्रचार तक्षशिला म (पजाब के रावलपिंडी जिला म जनमेजय के सर्पसत्र म हुआ। व्यासदेव भी उस यज्ञ म उपस्थित थे। महार जनमेजय और ब्राह्मणो के विशेष आग्रह पर महर्षि ने अपने निकट बैठे अपन शि वैशम्पायन को महाभारत सुनाने का आदेश दिया। गुरु के आदेश से मुनि वैशम्प यन ने उस यज्ञ मे भारत कथा सुनाइ। वहाँ बहुत से मुनि ऋषि व गुणी व्यक्ति उपस्थित थे। महाभारत की दूसरी आवृत्ति नैमिषारण्य मे कुलपति शौनक द्वादशवर्षी यज्ञ म हुई। वहाँ वक्ता थ लोमहर्षण क पुत्र उग्रश्रवा और उपस्थि याज्ञिक व दर्शकगण श्रोता थे। अत महाभारतकालीन समाज' का मतलब अ से पाच हजार वर्ष पूर्व के समाज से हुआ।

महाभारत मे तीन स्तर देखने म आते हैं। रचनाकाल म बहुत पहले घटनाओं व उपाख्यान आदि को भी इसम स्थान मिला है—रामायण का वर्ण नलोपाख्यान सावित्री की कहानी आदि। प्राय प्रत्येक पर्व म पुरातन इतिह का बहुत सी कथाएँ लिपिबद्ध हुई हैं विशेषत शान्ति और अनुशासन पर्व के भीष्म युधिष्ठिर सवाद म प्राचीन इतिहास क अनगिनत उदाहरण मिलते हैं। उन वर्णनो का प्राकमहाभारतीय स्तर रूप म लिया जा सकता है। महाभारत म वर्णि पात्र पात्रियो के चरित्र एव तात्कालिक दूसरे इतिवृत्त को महाभारतीय स्तर रूप लिया जा सकता है। महाभारत की रचना के बाद अर्थात कलियुग के आचा व्यवहारो का भी थोडा सा वर्णन मार्कण्डेय समास्या (वनपर्व) आदि म मिलता इन प्रकरणो का परमहाभारतीय स्तर रूप म लिया जा सकता है। अतएव समझ चाहिए कि प्राकमहाभारतीय समाज पाँच हजार वर्षों से भी प्राचीन है औ परमहाभारतीय समाज महाभारत के रचनाकाल से दो चार सौ वर्ष बाद का अर्थात् आज से साढे चार हजार वर्ष पूर्व के प्राय एक हजार वर्षों का भारतीय इति हास महाभारत म वर्णित हुआ है।

किसी किसी प्राच्य व पाश्चात्य पडित ने महाभारत के बहुत से अंशों प्रक्षिप्त कहा है। यहाँ तक कि उन्होने तो श्रीमद्भगवद्गीता को भी प्रक्षि कहने से नहीं छोडा। किसी किसी ने तो प्रक्षिप्त अंश समझने का नया ढंग भी निक

लिया है। जिस प्रकार यह कहना ठीक नहीं है कि इसमें कोई भी अंश प्रक्षिप्त नहीं है उसी प्रकार यह कहना भी युक्तियुक्त नहीं है कि स्वार्थांध व्यक्तियों ने इसमें जहाँ-तहाँ अपने श्लोक जोड़ दिए हैं। मुद्रण प्रणाली के प्रचलन से पहले अनेक कारणों से मूल पाठ में परिवर्तन और परिवर्द्धन का होना कोई विचित्र बात नहीं है। देशभेद, लिपिभेद, कीड़ों द्वारा खाये स्थान पर अनुमानिक संयोजन, कथक व पाठक द्वारा रचित श्लोकों एवं उनकी लिखी किंवदंतियों का उनकी मृत्यु के उपरान्त दूसरे लेखकों द्वारा मूल में जोड़ा जाना आदि कारण अवश्य थे अन्यथा पाठभेद, अध्याय व श्लोकों की संख्या में असामंजस्य नहीं रहता, किन्तु तब भी महाभारत जैसे वृहद् ग्रंथ का प्रक्षिप्त अंश निर्धारित करना आसान काम नहीं है। विरोधी वचनों के समाधान की चेष्टा किये बिना ही उसे प्रक्षिप्त कहकर टाल देना भी एक प्रकार का दुःसाहस ही है। अपनी रुचि के विपरीत अंश को प्रक्षिप्त कहकर अपना सिद्धान्त स्थापित करना एकदम आसान है, परन्तु शास्त्र-समीक्षा की भारतीय पद्धति यह नहीं है। भारतीय पंडित पद-वाक्य व प्रमाण शास्त्र (व्याकरण पूर्वमीमांसा और न्याय) की सहायता से शास्त्रों के पूर्णतया अविरोधी अंशों के समाधान की भी चेष्टा करते हैं और अपनी इस चेष्टा में बिल्कुल ही असफल होने पर हारकर उस विरोधी अंश को प्रक्षिप्त कहते हैं। पूना के भंडारकर ओरियंटल रिसर्च इन्स्टिट्यूट द्वारा प्रकाशित महाभारत के प्रकाशन-काल में मैंने भी दीर्घकाल तक काम किया था। उस समय मुझे भारतवर्ष के विभिन्न प्रदेशों की हस्तलिखित महाभारत की अनेक पांडुलिपियाँ पढ़ने का अवसर मिला था। विभिन्न प्रदेशों की उन पांडुलिपियों में मुझे तो कहीं भी आकाश-पाताल का अन्तर नहीं दिखाई दिया। दीर्घकाल का व्यवधान होने के कारण ग्रंथ में काफी परिवर्तन परिवर्द्धन हुआ है यह तो सत्य है, किन्तु अब वेदव्यास रचित यथार्थ अंश निकालना शायद बिल्कुल ही असाध्य है। और अपनी अक्षमता के कारण ही मैंने यह दुःसाहस नहीं किया।

मनुष्य के संघ को समाज कहते हैं। महाभारत में मनुष्य को बहुत ऊँचा स्थान दिया गया है। 'हंसगीता' (शान्ति २९९वाँ अध्याय) में उद्धृत है—

"गुह्यं ब्रह्म तदिदं वो ब्रवीमि"
न मानुषाच्छ्रेष्ठतरं हि किंचित्"

अर्थात्—मैं एक गुह्य महत् तत्व बतलाता हूँ कि मनुष्य से श्रेष्ठ और कुछ नहीं है।

'महाभारतकार ने मनुष्य को मनुष्य के रूप में ही देखा है, उसे देवत्व में उन्नीत

नहीं किया। स्वाभाविक व अस्वाभाविक बातों के विचित्र समावेश से महाभारत भरपूर है। देवता और मनुष्य की मित्रता ऋषियों की तपस्या तथा उनका सामयिक स्खलन, वर और शाप का देना स्त्री पुरुष का निःसकोच मिलन अस्वाभाविक जन्म-वृत्तांत आदि अनेक प्रकार की घटनाओं का वर्णन होने के कारण महाभारत मानो मर्त्यलोक का ग्रंथ होते हुए भी त्रिलोकवासियों का पाठ्यग्रंथ बन गया है। इसके पात्र पात्रियों का जीवन चरित्र चित्रण जितना विचित्र है, सामाजिक आचार-व्यवहार भी उतना ही विचित्र है किन्तु उस काल के बहुत से आचार आज भी भारतीय हिंदू समाज में ज्यों के त्यों विद्यमान हैं यह देखकर बहुत ही आश्चर्य होता है। प्राचीनकाल से चले आ रहे इन आचरणों के माध्यम से हम इस काल के मनुष्य के बारे में भलीभाँति समझ सकते हैं। महाकाल के निर्विकार साक्षी की तरह निरासक्त होकर महर्षि ने अपनी इस अपूर्व रस-समृद्ध संहिता की रचना की है। श्री कृष्ण को साक्षात् भगवान बताते हुए भी बीच-बीच में उनके चरित्र में मानवीयता दिखाई गई है। एक महामति विदुर के अलावा हर एक के चरित्र में कोई न कोई दुर्बलताएँ अवश्य प्रस्फुटित हुई हैं। भीष्म द्रोण, गांधारी, युधिष्ठिर कोई नहीं छूटा। सरल भाषा अपने जन्म का वर्णन करने में भी सत्यनिष्ठ ग्रंथकार का कंठ कंपित नहीं हुआ यद्यपि उस युग में भी कानीन पुत्र का समाज में कोई बहुत अच्छा स्थान नहीं था। महर्षि व्यास की यह अपूर्व सत्यनिष्ठा महाभारत में पद पद पर दिखाई देती है।

रवीन्द्रनाथ के आदेश का शिरोधार्य करके मैंने महाभारतकालीन समाज का चित्र अंकन करने की चेष्टा की है। मनुष्य का वास्तविक परिचय समाज द्वारा ही होता है। पादटीका में उद्धृत प्रमाण शक संवत १८२६ में कलकत्ता के बंगवासी प्रेस से प्रकाशित पंडित प्रवर पंचानन तर्करत्न द्वारा सम्पादित महाभारत से लिए हैं।

महाभारत में अठारह पर्व हैं यथा—आदि सभा वन विराट, उद्योग भीष्म, द्रोण कर्ण शल्य सौप्तिक स्त्री शांति अनुशासन अश्वमेध आश्रमवासिक मौषल, महाप्रस्थानिक और स्वर्गारोहण। हरिवंश आदि ग्रंथ महाभारत के परिशिष्ट माने जाते हैं महाभारत में हरिवंश को परिशिष्ट रूप में लिया गया है। हरिवंश के तीन पर्व हैं—हरिवंश विष्णु और भविष्य। अपनी पुस्तक में मैंने हरिवंश से भी प्रमाण लिए हैं। पादटीका में प्रमाण उद्धृत करते हुए पर्व के नाम का प्रथम अक्षर या प्रथम दो अक्षर लिए गए हैं। जैसे—विराट पर्व का सांकेतिक 'वि', आदि पर्व का 'आ' इत्यादि। जिस विषय में एकाधिक बहुत सी उक्तियाँ महाभारत में मिलती हैं वहाँ वक्तव्य के समर्थन में दो एक उक्तियाँ सम्पूर्ण लेकर बाकी के पर्व अध्याय व श्लोक-संख्या एक साथ दे दी है।

प्राय तीन वर्ष पूर्व श्रीयुत पद्मकुमार जैन का एक प्रस्ताव आया था, जिसमें उन्होंने 'महाभारतेर समाज' का अपनी पत्नी श्रीमती पुष्पा जैन से अनुवाद कराकर प्रकाशित करने की अनुमति मांगी थी। मैंने यह प्रस्ताव सोत्साह स्वीकार कर लिया था।

इस ग्रंथ के अनुवाद में श्रीमती पुष्पा जैन ने यथोचित सतर्कता बरती है। बंगला के दूसरे संस्करण में थोड़ा-बहुत परिवर्तन व परिवर्धन हुआ था, उसी संस्करण का हिन्दी अनुवाद किया गया है।

अधिक से अधिक पाठक इस ग्रंथ को पढ़ें इसी से मेरा, जैन महाशय का और उनकी पत्नी का श्रम सार्थक होगा। इति।

२५ पौष
शक संवत १८८१

—श्री सुखमय भट्टाचार्य
विश्वभारती विश्वविद्यालय
शांति निकेतन, पश्चिम बंगाल

'मानवता का ही सबसे ऊपर रखने के कारण महाभारत म उन सब बाता का उल्लेख हुआ है जिनस मानव जावन का निकटतर सबध है, यह जीवन एकागी न होकर बहुमुखी है जिसके अ तगत विवाह पद्धति नारी-जीवन और नारी का स्थान, सस्कार, चातुवर्ण्य, चतुराश्रम शिक्षा कृषि और पशुपालन शिल्प वषभूषा तथा श्रृगार-पटार पारिवारिक व्यवहार, यापार, अतिथिसेवा धम उपासना, राजधम, दशन इत्यादि सभी बात आ जाती हैं। इन सब विषयो पर पडित सुधमय भट्टा चाय न अपनी पुस्तक म विस्तारपूवक विचार किया है तथा महाभारत से ही उद्धरण देकर उन विषया की पुष्टि का है। उनकी शली इतनी रोचक है कि जिस विषय को वे हाथ मे लेते है उसका सजीव चित्र सामने खडा हो जाता है। पर ऐतिहास दृष्टिकोण स महाभारत का अध्ययन करनेवाला के सामन यह प्रश्न बराबर बना ही रहता है कि शास्त्रीजी ने महाभारत के आधार पर भारताय जीवन, राजधम और तत्वज्ञान के जो पहलू हमारे सामन उपस्थित किए हैं क्या वे एक ही युग के है अथवा भिन्न भिन्न युगा का परपराओ का क ड्या जोडकर समाज और धम के चित्र प्रस्तुत किए गए है। इसम सदेह नही कि महाभारत म अनेक स्तर हैं और इन स्तरो के कारण विचारो म तथा सामाजिक और राजनीतिक विचारधाराओ म असगतियाँ भी दीख पडती हैं। इन स्तरो का निराकरण कसे किया जाय और फिर उन्ह एक त्रित करके युग विशेष म भारताय सस्कृति का चित्र कस खीचा जाय यह प्रश्न हमारे सामने बराबर बना रहगा। श्री भट्टाचाय का प्रयत्न इस दृष्टि से स्तुत्य है कि उन्होने प्रस्तुत सामग्री के आधार पर महाभारत का विश्लेषण करके प्राचान भारत का एक सागोपाग चित्र उपस्थित किया है। और इस तरह श्री हापकिन्स के काम को आगे बढाया है।

पर महाभारतकालीन समाज का चित्र खीचने के पहले यह आवश्यकता अधिक जान पडती है कि जिस समाज का शास्त्रीजी ने चित्र खीचा है उसके भौगोलिक आधार क्या थे उस समाज का बहत्तर भारत तथा निकटपूव क दशा से क्या सबध था तथा भारत की महाजाति क सगठन म समय-समय पर मध्य एशिया और ईरानी नस्ल के कबीलो न क्या योगदान दिया इस सबध म लोग जान। सभापव से युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ प्रकरण तथा पाडवा क दिग्विजय यात्रा के प्रकरणा स हम उस भारतीय सस्कृति का जो चित्र मिलता है जिसका विस्तार भारत की भौगोलिक सीमा तक ही स्थिर न होकर वक्षु और परिवक्षु प्रदेश तथा द्वीपातरो तक फला हुआ था तथा यहाँ के व्यापारी स्थल माग से एशिया माइनर म अनारको तक जाते थे तथा समुद्री व्यापारी लाल सागर होकर स्थल माग स यवनपुरी यानी सिकदरिया तक पहुँचते थे। इतना ही नहीं युधिष्ठिर को भेंट देने वाला म कवल इस देश के

लोग ही नहीं थे। उनमें शक, पह्लव दरद, कक, हूण इत्यादि अनेक मध्य एशिया के लोग भी थे जो न केवल समय-समय पर इस देश म आकर बस भी जाते थे वे अपने देशो से भारत के साथ बराबर व्यापारिक और सास्कृतिक सबध कायम करने के लिए प्रयत्नशील भी रहते थे। स्मृतिकार इन विदेशियो के उन आचार-विचारो से जिनका भारतीय आदर्शों से मेल नहीं खाता था असतुष्ट होकर उनकी भर्त्सना करते थे। महाभारत म भी इनकी कोई विशेष प्रशसा नहीं की गई है पर ऐतिहासिक और पुरातात्विक दृष्टि से इस बात म सन्देह नहीं कि भारतीय हिन्दू समाज ने जो रूढ़िगत होता जा रहा था इन आगन्तुको से एक नई सस्कृति और एक नया दृष्टिकोण पाया जिसकी स्पष्ट छाप हम भारतीय जीवन और कला के अनेक अगो पर स्पष्ट रूप से देख सकते हैं।

इसमे मुझे जरा भी सन्देह नहीं है कि महाभारत सबधी अनेक विवादग्रस्त प्रश्नो के बावजूद प० सुखमय भट्टाचार्य ने महाभारतकालीन समाज का जो चित्र हमारे सामने रखा है वह विद्वत्तापूर्ण है। इससे महाभारत सम्बन्धी अध्ययन को प्रोत्साहन मिलेगा ऐसी आशा की जा सकती है।

इस ग्रथ की अनुवादक श्रीमती पुष्पा जैन के सबध मे भी कुछ कहना अनुचित न होगा। उन्होंने ऐसी सरल और सुबोध हिन्दी म इस बगला पुस्तक का अनुवाद किया है कि इसके पढने वाले को मूलग्रथ की भाषा का आनद आ जाता है।

प्रिंस आफ वेल्स म्यूजियम
बम्बई।

—(डॉ०) मोतीचन्द
३१ ५-१९६६

अनुवादिका के
दो शब्द

हिन्दी पाठकों के समक्ष श्री सुखमय भट्टाचार्य के बंगला ग्रंथ 'महाभारतेर समाज' का हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत करते हुए मुझे अत्यन्त हर्ष हो रहा है। अपनी प्रथम पुस्तक '१२ बंगला श्रेष्ठ कहानियाँ' के प्रकाशन के बाद मैं इस उलझन में थी कि अब कौन सी पुस्तक हाथ में लूँ। उपन्यास, कहानी की ओर कोई विशेष झुकाव न था और कोई ठोस कार्य करना चाहती थी। मेरे पतिदेव ने पंडितजी को इस पुस्तक के अनुवाद का आग्रह करते हुए कहा कि इस अनुवाद के प्रकाशन से हिन्दी भाषा की एक बड़ी कमी पूरी हो जायगी।

मुझे संदेह था कि मैं लेखक व पाठकों के साथ न्याय कर पाऊँगी या नहीं। इस उलझन से छुटकारा दिलाया हिन्दी जगत के देदीप्यमान तरुण लेखक स्वर्गीय डा० रांगेय राघव ने, जो अपने जीवन के अंतिम काल में अपने असाध्य रोग का उपचार कराने बम्बई आये थे और कुछ काल के लिए हमारे साथ ठहरे थे। यह अनुवाद उन्हीं की पुण्य स्मृति को समर्पित है। उनकी दी हुई प्रेरणा आज भी निरंतर व अबाध कार्य के लिए प्रेरित करती रहती है।

किसी भाषा की किसी पुस्तक का अनुवाद के लिए हाथ में लेने पर अनुवादक का कर्तव्य हो जाता है कि वह लेखक और पाठक के साथ पूरा न्याय करे। मैंने इस अनुवाद में पूरा प्रयत्न किया है कि लेखक को यह महसूस न हो कि जो कुछ वह कहना चाहते थे, उसे मैं अच्छी तरह व्यक्त नहीं कर पाई और पाठक कहीं इससे ऊब कर इसे ताक पर उठाकर न रख दें। अनुवाद में बहुत से शब्द ऐसे हैं जो पाठकों को कुछ अप्रचलित व नये लगेंगे, लेकिन मुझे बाध्य होकर वे शब्द उसी प्रकार रखने पड़े हैं, जैसे कि मूल पुस्तक में थे। उन शब्दों के सरल पर्यायवाची शब्द ढूँढने का मैंने बहुत कोशिश की परन्तु समानार्थक शब्द न मिलने पर मैंने उन्हें ज्यों का त्यों रखना उचित समझा। एक चीज पाठकों के समक्ष और आयगा वह है पुनरावृत्ति। लेकिन जानते हुए भी मुझे ये पुनरावृत्तियाँ ज्यों की त्यों रखनी पड़ी हैं। पुस्तक के विषय को देखते हुए और अनुवादक होने के नाते मुझे यह अधिकार नहीं था कि मैं अपनी ओर से कुछ घटा या बढ़ा सकूँ।

महाभारत के उदगम, विकास, काल और भाषा से संबंधित साहित्य अंग्रेजी तथा अन्य युरोपीय भाषाओं में तो प्रचुर मात्रा में प्राप्य है, परन्तु हिन्दी में इस प्रकार की कोई भी पुस्तक देखने में नहीं आई जिसमें महाभारतकाल के आचार-व्यवहार, अर्थ-काम आदि जीवन के समस्त पहलुओं पर विस्तृत प्रकाश डाला गया हो। प्राच्य विद्या विशेषज्ञ सोरेंसन, वाथ, सिल्वलवी पिश्चल जकोबी वाप, ओल्डन बर्ग, हौपकिन्स, लास्सन वेबर, लुडविग तथा विन्टरनिट्स आदि अधिकारियों ने महाभारत के अलग-अलग अंगों का तो विवेचन किया है और विवाद भी खड़े किये हैं, परन्तु जहाँ तक इस अल्पविज्ञ अनुवादिका को सूचना है, किसी एक ही पुस्तक में इतने विस्तार से महाभारत ग्रंथ पर ही आधारित तत्कालीन समाज का चित्रण किसी ने भी नहीं किया है जितना पं० सुखमय भट्टाचार्य जी ने। मराठी के महान लेखक और विद्वान चिंतामणि वैद्य की पुस्तक का हिन्दी अनुवाद 'महाभारत मीमांसा' के नाम से ३० वर्ष से भी अधिक हुए प्रकाशित हुआ था, जो अब अप्राप्य है। गीता प्रेस की ओर से महाभारत की नामानुक्रमणिका प्रकाशित हुई है और सोरेंसन का मूल्यवान ग्रंथ भी 'महाभारत की नामानुक्रमणिका' के नाम से हाल ही में प्रकाशित हुआ है। पर हिंदी में अब तक इस विषय की कोई पुस्तक उपलब्ध नहीं है। आशा है कि हिन्दी-जगत इसका स्वागत करेगा।

अंत में मैं पंडित जी का आभार प्रदर्शित करती हूँ कि उन्होंने इस ग्रंथ के अनुवाद की अनुमति दी और पुस्तक के अनुवाद में अपना पूर्ण सहयोग दिया। उन सब विद्वानों के प्रति मैं आभारी हूँ जिन्होंने अपनी मूल्यवान सम्मतियाँ देकर अनुवाद में सहायता की और कठिनाई पड़ने पर उसे दूर करके निरन्तर आगे बढ़ने के लिये उत्साहित किया। डा० मोतीचंद तथा डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी जी का तो मैं जितना भी आभार प्रकट करूँ थोड़ा है। मेरे इस प्रयास की सफलता का श्रेय तो वास्तव में आप लोगों का ही है। पुस्तक का विश्लेषण इतनी अच्छी तरह से करके आपने पाठकों के लिये सहज मार्ग बना दिया है। मैं तो हृदय से आभारी हूँ कि आप लोगों ने मेरा उत्साह बढ़ाते हुए भविष्य में आगे कार्य करते रहने की प्रेरणा दी। लोकभारती प्रकाशन संस्था और साहित्य सम्मेलन प्रेस को धन्यवाद है कि उन्होंने पुस्तक के मुद्रण में विशेष रुचि दिखाई व सतर्कता बरती।

—पुष्पा जैन

यम खण्ड

अनुक्रम

विवाह (क) ३
विवाह (ख) २८
गर्भाधानादि-संस्कार ५५
नारी ६२
चातुर्वर्ण्य ८५
चतुराश्रम १०१
शिक्षा ११६
जीविका-व्यवस्था १४७
कृषि, पशुपालन व गासेवा १६१
वाणिज्य १७०
शिल्प १७५
आहार व खाद्य १९५
परिच्छद और प्रसाधन २०९
सदाचार २१७
पारिवारिक व्यवहार २२०
प्रवीण व्यवहार २३५
अतिथि-सेवा और शरणागत रक्षा २५२
क्षमा व श्रद्धा २५६
अहंकार व कृतघ्नता २६३
दान प्रकरण २६६

धर्म २७१
सत्य २८६
देवता २९३
उपासना ३१७

आह्निक व कृत्य ३२०
प्रायश्चित्त ३३३
शवदाह व अशौच ३३८
श्राद्ध व तर्पण ३४२
दाय विभाग ३५८
राजधर्म (क) ३६२
राजधर्म (ख) ३८६
राजधर्म (ग) ४२९
साधारण नीति ४६७
युद्ध ४७०

● तृतीय खंड

आयुर्वेद ५०१
पशु व वृक्ष आदि की चिकित्सा ५१३
गान्धर्व ५१६
व्याकरण व निरुक्ति ५२०
ज्योतिष ५२२
वेद और पुराण ५३४
दार्शनिक मतवाद ५३८
आन्विक्षिकी ५६५
सांख्य और योग ५७६
पूर्वोत्तर मीमांसा ६०३
गीता ६१७
पंच रात्र ६३०
अवैदिक मत ६३५

प्रथम खण्ड

विवाह (क)

भारतीय सामाजिक ढाँचे में विवाह का स्थान सर्वप्रथम है। इस कारण 'विवाह' से ही हमारी आलोचना आरम्भ होती है।

सुदूर प्राचीन काल में स्त्री-पुरुष का स्वैराचार—समाज में विवाह प्रथा अनादिकाल से चली आ रही हो ऐसी बात नहीं, नर-नारी का यथेच्छ मिलन ही प्राचीन प्रथा थी। नारी का बहुत से पुरुषों के प्रति एवं पुरुष का बहुत सी नारियों के प्रति आकृष्ट होना सामाजिक रूप में न्याय-संगत माना जाता था। बल्कि इस प्रकार के स्वैराचार को ही उस युग में धर्म के रूप में ग्रहण किया जाता था। श्रुति में भी देखा जाता है कि कामदेव व्रत में समागमार्थिनी नारी की मनोवासना पूर्ण करना धर्मकृत्यों में गिना जाता था।

स्वैराचार ही प्राकृतिक है—पशु-पक्षी भी चिरकाल से इसी प्रकार के व्यवहार के अभ्यस्त हैं। उनमें यह प्राचीन प्रथा वैसी ही चली आ रही है, उसमें बाद परिवर्तन नहीं हुआ है।

महाभारत के समय भी उत्तर कुरु में यही आचार था—उत्तर कुरु में यह प्रथा काफी दिनों तक वर्तमान रही। पाण्डु की उक्ति में पता लगता है कि उनके राज्यकाल में भी उत्तरकुरु में विवाह प्रथा प्रचलित नहीं हुई थी। इस प्रकार के आचरण को स्त्रियों के प्रति विशेष अनुग्रह बताया गया है।[1]

श्वेतकेतु द्वारा विवाह मर्यादा की स्थापना—कालान्तर में समाज में विवाह-प्रथा शुरू हुई। उद्दालक नामक ऋषि के पुत्र श्वेतकेतु ने सर्वप्रथम विवाह प्रथा का नियम बनाया। कहा गया है कि एक बार श्वेतकेतु अपने माता पिता के पास बैठे थे। उसी समय एक ब्राह्मण वहाँ आया और उनकी माँ का हाथ पकड़कर

---

१ अनावृता किल पुरा स्त्रिय आसन् वरानने। इत्यादि। आदि १२२।४-८
द्रष्टव्य नीलकण्ठ।
अनावृता स्त्रियः सर्वा नराश्च वरवर्णिनी।
स्वभाव एष लोकानां विकारोऽन्य इति स्मृतः ॥ वन ३०६।१५
उत्तरेषु च रम्भोरु कुरुष्वद्यापि पूज्यते।
स्त्रीणामनुग्रहकरः स हि धर्मः सनातनः ॥ आदि १२२।७

बाला, 'चलो, हम लोग चलें।' श्वेतकेतु को उस अनातकुलशील ब्राह्मण की इस अशिष्टता पर अत्यन्त क्रुद्ध होते देख उद्दालक बोले, वत्स, क्रुद्ध मत होओ, स्त्रियाँ भी गाय की तरह आवरणहीना एवं स्वैराचारिणी होती हैं।

ऋषिपुत्र पिता के वाक्यों से शान्त नहीं हुए। वे और भी क्रुद्ध होकर बोले, "मैं यह नियम बनाता हूँ कि अब से मनुष्य समाज में स्त्री-पुरुष दोनों में से कोई भी यौन व्यापार में स्वच्छन्दाचरण को प्रश्रय नहीं दे सकेगा। मेरा नियम उल्लंघन करने वाले को भ्रूणहत्या का पाप लगेगा। लेकिन जो नारी पुत्रोत्पादन के निमित्त पति का आदेश मिलने पर भी दूसरे पुरुष के साथ सम्भोग न करके आदेश का उल्लंघन करेगी, उसी पाप की भागिनी होगी।[१]

दीर्घतमाकर्तृक नारियों के लिये एकपतित्व विधान—दीर्घतमा नामक एक ऋषि जन्मान्ध थे। उन्होंने प्रद्वेषा नाम की किसी सुन्दरी ब्राह्मण कन्या से पाणिग्रहण किया था। कामधेनु के पुत्र से गोधर्म का अध्ययन करके वे उसी तरह के (प्रकट मैथुन) आचरण में प्रवृत्त हुए। उनके इस अशिष्ट आचरण से क्रुद्ध होकर आश्रम के मुनियों ने हर तरह से उनका साथ छोड़ दिया। प्रद्वेषा की भी उन पर पहले जितनी श्रद्धा नहीं रही। अंध दुर्विनीत पति उन पर ही आश्रित थे। एक दिन उन्होंने पति से कहा मैं अब तुम्हारा भरण-पोषण नहीं कर सकूँगी। पत्नी के कठोर वचनों से क्रुद्ध होकर दीर्घतमा बोले मैंने अब से यह नियम बना दिया कि कोई भी स्त्री कभी भी एक से ज्यादा पति नहीं रख सकेगी। पति के जीवित रहते या मृत्यु के बाद जो नारी दूसरे पुरुष को ग्रहण करेगी, वह समाज द्वारा निन्दित होगी। पतिहीना नारियाँ किसी भी ऐश्वर्य का उपभोग नहीं कर पायेंगी।[२]

दीर्घतमा के अनुशासन का व्यतिक्रम—दीर्घतमा कृत नियम महाभारत की समसामयिक समाज व्यवस्था में कोई बहुत आन्त नहीं हुए। इस विषय पर आगे आलोचना होगी।

ऋतुकाल छोड़कर स्वच्छन्द विहार—ऋतुकाल के दिनों को छोड़कर नारियाँ इच्छानुकूल विहार कर सकती थीं, केवल ऋतुकाल में पति के अलावा दूसरे पुरुष का संगम नहीं करती थीं, यह नियम भी कभी समाज में प्रचलित था।[२क]

---

१ मर्यादेयम् कृता तेन धर्म्या वै श्वेतकेतुना। इत्यादि। आदि १२२।१० २०

२ जात्यन्धो वेदवित् प्राज्ञः पत्नीं लेभे स विद्यया। इत्यादि। आदि १०४।२३ ३७

२ (क) ऋतावृतौ राजपुत्रि स्त्रियाः भर्त्ता पतिव्रते। इत्यादि। आदि १२२।२५, २६

✓ **विवाह संस्कार और उसकी पवित्रता**—विवाह स्त्री व पुरुष का एक विशेष संस्कार है। यह बहुत ही पवित्र बंधन है। महाभारत के 'आश्रम धर्म' एवं 'पतिव्रताधर्म' की आलोचना में इस विषय पर विस्तृत रूप से प्रकाश डाला जायगा। गार्हस्थ्य धर्म की समस्त सुख शान्ति व कर्त्तव्यनिष्ठा इसी पवित्र बंधन पर आधारित है।

विवाह का प्रधान उद्देश्य पुत्रोत्पत्ति—विवाह का प्रधान उद्देश्य पितृऋण का परिशोध करना है। सन्तानोत्पत्ति द्वारा यह ऋण उतरता है। पितरों की अविच्छिन्न सन्ततिधारा की रक्षा करने से ही वे प्रसन्न होते हैं। (चतुराश्रम प्रकरण देखिए।)

गृहस्थ के लिये विवाह एक आवश्यक कर्त्तव्य—ब्रह्मचर्य पालन के बाद जो गृहस्थ होना चाहता हो, पत्नी ग्रहण करना उसके लिये अनिवार्य है। जरत्कारु के साथ उनके पितृगण का जो कथोपकथन वर्णित है, उसमें स्पष्टतः उल्लिखित है कि गृहस्थ के लिये स्त्री ग्रहण एक आवश्यक कर्त्तव्य है नहीं तो पितृगण नरकगामी होते हैं।[1]

पुत्रलाभ की श्लाघ्यता—जगत में जितने भी पार्थिव लाभ हैं उन सबमें पुत्रलाभ ही सबसे अधिक श्लाघनीय है। धर्मपत्नी द्वारा पुत्रोत्पत्ति होने से वंश की अविच्छिन्न सन्तति धारा रक्षित होती है।[2]

एकमात्र पुत्र के विवाह की अपरिहार्यता—जो व्यक्ति अपने पिता का एकमात्र पुत्र हो, उसके लिये नैष्ठिक ब्रह्मचर्य निषिद्ध है। पुत्रोत्पत्ति के निमित्त उसे पत्नीग्रहण करनी ही होगी। जरत्कारु-पितृसंवाद में यह बात बारबार कही गई है।[3]

द्वापरयुग से स्त्री पुरुष के संयोग से सन्तानोत्पत्ति—कहा गया है कि सत्ययुग में मनुष्य की मृत्यु स्वेच्छाधीन थी। यम का भय बिल्कुल नहीं था। उस काल में

---

१ आदि १३ वाँ अ०।
रतिपुत्रफला नारी। सभा ५।११२, उ० ३८।६७
उत्पाद्य पुत्राननृणांश्च कृत्वा। उ० ३७ ३९

२ विवाहांश्चैव कुर्वीत पुत्रानुत्पादयेत च।
पुत्रलाभो हि कौरव्य सर्वलाभाद्विशिष्यते॥ अनु ६८।३४
कुलवंशप्रतिष्ठां हि पितरः पुत्रमब्रुवन्। आदि ७४।९८
यथा जन्म ह्यपुत्रस्य। वन १९९।४

३ आदि १३ वाँ अ०। आदि ४५ वाँ और ४६ वाँ अ०।

सकल्प करते ही सतान की उत्पत्ति हो जाती थी। त्रेतायुग में भी मैथुनधर्म का प्रचलन नहीं हुआ था, नारी के स्पर्शमात्र से ही सतान की उत्पत्ति हो जाती थी। द्वापरयुग में आकर स्त्री पुरुष का सयोग पहले पहल शुरु हुआ। (ये सब उक्तियाँ युक्तियुक्त है कि नहीं, यह विद्वानों के लिये विवेचनीय है)। पुत्रोत्पत्ति के निमित्त स्त्रीग्रहण के प्रचलन को भी तभी से समाज में स्थान मिला।

सभवत बहुत प्राचीनकाल में विवाह प्रथा समाज में व्यापक रूप से प्रचलित नहीं हुई इस कारण ही भिन्न भिन्न युग में व्यवहारवैषम्य का उल्लेख है।

साधारण स्त्री पुरुषों के लिये विवाह न करना कोई अच्छा आदर्श नहीं था—सौ में से निन्यानवे स्त्री-पुरुष उस काल में विवाहबधन में आबद्ध होते थे। जो स्त्री पुरुष नैष्ठिक ब्रह्मचर्य व्रत लेते थे, उनकी बात अलग थी उनके प्रति साधारण मनुष्यों की अगाध श्रद्धा थी। उदाहरण के लिये देवव्रत भीष्म व तपस्विनी सुलभा का नाम लिया जा सकता है।

परस्त्री मे आसक्ति अतिशय निन्दित—परन्तु जो विवाह का दायित्व ग्रहण न करके स्वच्छद रूप से विचरण करते थे वे समाज में अतिशय घृणा के पात्र समझे जाते थे। परस्त्री में आसक्ति इहलोक व परलोक दोनों के लिये अकल्याणकारी है। इसलिए जो गृहस्थाश्रम में प्रवेश करते थे, उन्हे विवाह करना ही पडता था। विवाह का बधन बहुत ही पवित्र समझा जाता था। भार्या को सहधर्मिणी कहा जाता था।

भार्या ही त्रिवर्ग का मूल— भार्या ही मनुष्य के त्रिवर्ग अर्थात धर्म अर्थ काम प्राप्ति का प्रधान साधन है —आदि असख्य वाक्य विवाह के समर्थन में कहे गये है। धर्मचारिणी भार्या के साथ मिलकर ससारयात्रा का निर्वाह करने से धर्म, अर्थ काम (त्रिवर्ग) तीनों एक साथ प्राप्त होते है। गृहस्थधर्म में त्रिवर्ग के बीच परस्पर कोई विरोध नहीं है। एकमात्र पतिव्रता भार्या की सहायता से पुरुष धर्म, अर्थ व काम रूप त्रिवर्ग का एक साथ उपभोग कर सकता है।

---

१ यावद यावदभूच्छ्रद्धा देह धारयितुम नृणाम।
तावत्तावदजीवस्ते नासीद यमकृत भयम॥ इत्यादि। शा २०७।३७ ४०

२ परदारेषु ये सक्ता अकृत्वा दारसग्रहम्।
निराशा पितरस्तेषां श्राद्धकाले भवन्ति हि॥ इत्यादि। अनु १२९।१०२
अर्द्ध भार्या मनुष्यस्य भार्या श्रेष्ठतम सखा। इत्यादि। आदि ७४।४१ ४८
यदा धर्मश्च भार्या च परस्परवशानुगौ।
तदा धर्मार्थकामानां त्रयाणामपि सगम॥ वन ३१२।१०२

धर्मपत्नी का स्थान उच्च—समाज की शुचिता एवं अन्यान्य नाना प्रकार की उन्नति का प्रधान हेतु विवाह प्रथा है, यह उस समय के मनीषियों ने विशेष रूप से सोचा था। धर्मपत्नी को उन्होंने जो गौरव दिया है, वह प्राचीन समाज की सभ्यता का एक उज्ज्वल चित्र है, इसमें संदेह नहीं है। विवाह-संस्कार द्वारा गृहस्थ जीवन को मधुर बनाने का आदर्श बहुत जगह बहुत रूपों में प्रकट हुआ है।

नारी का उज्ज्वल रूप—नारी के कन्या, सहधर्मिणी व माता के रूप में क्षमा धारण करने, प्रेम व भक्ति का जो आश्चर्यजनक निदर्शन मिलता है, वही असल में उस समय व समाज का एक उज्ज्वल पवित्र चित्र हमारी आँखों के सामने उपस्थित करता है।

गृहस्थ का दायित्व—पति-पत्नी के प्रणय में भी अखिल विश्व के कल्याण का दायित्व निहित था। गृहस्थाश्रम का दायित्व कितना अधिक था, यह आगे के प्रकरण में (चतुराश्रम) विस्तृत रूप से बताया जायगा। केवल इन्द्रियों की परितृप्ति के उद्देश्य से विवाह के कर्तव्य का स्थिरीकरण नहीं हुआ था। परिपूर्ण मानव-जीवन-यापन करना ही उसका उद्देश्य था। (इस विषय में नारी प्रबंध देखिए) भार्या और गार्हस्थ्य संबंधी अध्यायों का पठन से उस समय के समाज की विचारधारा का आदर्श अच्छी तरह समझा जा सकता है।

पति व पत्नीवाचक कुछ शब्दों के अर्थ—पतिवाचक व पत्नीवाचक कई शब्दों के व्युत्पत्तिगत अर्थ भी उल्लिखित हैं। पति भार्या का भरण-पोषण व प्रतिपालन करें ऐसा भर्ता व पतिशब्द में निर्णय किया गया है।[1] पत्नी को पुत्र प्रदान करने के कारण पति को 'वर' कहा जाता है।[2] पत्नी पुरुष द्वारा पोषित है, इस कारण उसे 'भार्या' कहा जाता है।[3] पति (पुत्र रूप में) स्वयं भार्या के गर्भ में प्रवेश करके पुत्ररूप में जन्मग्रहण करता है, इस कारण पत्नी को 'जाया' कहा गया है।[4]

---

१ भार्याया भरणाद् भर्ता पालनाच्च पतिः स्मृतः ॥ आदि १०४।३०।—शा २६५।३७। अनु ९०।६२

२ पुत्रप्रदानाद्वरदः। अनु ९०।५३

३ भरणीयेन भार्या च। शा २६५।५२

४ भार्या पतिः संप्रविश्य स यस्माज्जायते पुनः।
जायायास्तद्धि जायात्वं पौराणाः कवयो विदुः ॥ आदि ७४।३७
आत्मा हि जायते तस्यां तस्माज्जाया भवत्युत। वन १२।७०। वि० २१।४१

'पत्नी सदा आदर का पात्री है, इसलिये उसे दारा कहा गया है।'[1] पति के व्यसनी होने से पत्नी दुखी होती है इसलिये उसे 'वासिता' कहा गया है।[2]

'मातवाचक कुछ शब्दों की निरुक्ति—जठर मे धारण करती है, इसलिये माता का धात्री' जन्म की हेतु है, इसलिए जननी', सतान के अगा का पापण करने के कारण 'अम्बा' वीरपुत्र प्रसव करने के कारण वीरसू, और शिशु की सुश्रूषा करने के कारण शुश्रु नामा मे अभिहित किया गया है।[3]

विवाह की अवस्था का स्थिरीकरण—वर व कन्या की उम्र के सबध मे महाभारतकार ने बहुत सक्षेप मे दो एक बात कही हैं। तीस वर्ष का वर दस वर्ष की वयस्का एव इक्कीस वर्ष का वर सात वर्ष की नग्निका से पाणिग्रहण करे। आचार्य गौतम ने समावर्तन काल मे प्रौढ शिष्य उतक से कहा था यदि तुम आज षोडश वर्षीय युवक होते तो मैं अपनी कन्या को तुम्हें समर्पित कर देता। इस उक्ति से पता चलता है कि पुरुष सोलह साल की अवस्था मे भी विवाह कर सकता था।[4]

नग्निका विवाह एक भी नहीं—अजातरजस्का अनागतयौवना कुमारी का विवाह करना ही शास्त्रीय विधान था। किन्तु समाज मे इस आदर्श का बहुत कम पालन हुआ। विवाह के सब चित्र युवक-युवती विवाह के मिलते हैं। बालिका विवाह एक भी नजर मे नही आता।

महाभारत की महिलाएँ यौवन-काल मे विवाहित—महाभारत मे जिन प्राचीन इतिहासो का उल्लेख हुआ है उन सबसे पता लगता है कि दमयन्ती सावित्री शकुन्तला देवयानी, शर्मिष्ठा आदि कोई भी विवाह के समय अनागतयौवना बालिका नही थी। एकमात्र सीता अवश्य बालिका थी, किन्तु उनके पिता ने जो भीषण प्रतिज्ञा की थी उससे शायद दीर्घकाल तक अविवाहित रहना भी सम्भव था। अतएव बाल विवाह का दृश्य महाभारत मे उद्धृत प्राचीन इतिहास मे भी नहा मिलता, यह कह सकते हैं।

---

१ दारा इत्युच्यते लोके। इत्यादि। अनु ४७।३० (द्रष्टव्य नीलकण्ठ)।

२ व्यसनित्वाच्च वासिताम्। शा २६५।५२

३ कुक्षिसंधारणाद्धात्री जननाज्जननी स्मृता। इत्यादि। शा २६५।३१, ३२

४ त्रिंशद्वर्षो दशवर्षां भार्यां विन्देत नग्निकाम्।
एकविंशतिवर्षो वा सप्तवर्षामवाप्नुयात्॥ अनु ४४।१४
युवा षोडशवर्षो हि यद्यद्य भविता भवान्। इत्यादि। अश्व ५६।२२

महाभारत की पात्राओं में सत्यवती अम्बिका अम्बालिका गांधारी, कुंती, द्रौपदी, माद्री, सुभद्रा, चित्रांगदा उलूपी आदि प्रमुख महिलाओं में प्रत्येक अपने पूर्ण यौवनकाल में परिणीता हुई थीं। उस काल में जो युवतियां स्वयंवरा होती थीं, उनकी तो बात ही अलग है लेकिन पिता माता आदि प्रमुख अभिभावक भी प्रायः बाल्यकाल बीत जाने पर ही कन्या का विवाह करते थे। कुन्ती ने तो विवाह के पूर्व पितृगृह में ही सन्तान (कर्ण) प्रसव की थी यद्यपि कुणिगर्ग की कन्या ने विवाह के विषय में पिता की आज्ञा का उल्लंघन किया था इस तरह के उदाहरण भी महाभारत में मिलते हैं। पर बालिका के लिए इतना साहस दिखाना सम्भव नहीं था।

✓ वयस्का कन्या माता पिता की दुश्चिन्ता का कारण—यद्यपि युवती-विवाह का प्रचलन ही अधिक था, तब भी घर में अविवाहिता वयस्का कन्या के रहने पर पास पड़ोसी कन्या के पिता को जब-तब सचेत करते रहते थे। सावित्री के पिता अश्वपति से नारदमुनि ने जिज्ञासा की थी, कन्या तो युवती हो गई है, अब इसका विवाह क्यों नहीं कर देते? अश्वपति ने भी वर का निश्चय करते समय सावित्री को उपदेश देते हुए कहा था, 'जो पिता यथासमय कन्या का विवाह नहीं करता, वह समाज में निन्दनीय है।'[२]

पड़ोसियों की अकारण जिज्ञासा—कन्या की उम्र कुछ अधिक होते ही पिता कुछ चिन्तित हो जाते थे, विशेषतः पड़ोसियों की अवांछित दृष्टियों के कारण और भी आकुल होते थे।[३]

पितृगृह में ऋतुमती होने के तीन वर्ष बाद कन्या को वर निरूपण की स्वतन्त्रता—पितृगृह में ऋतुमती होने के बाद तीन साल तक कन्या प्रतीक्षा करे कि पिता उपयुक्त वर ढूंढता है या नहीं। तीन साल बाद पिता के मत की प्रतीक्षा किये बिना अपना पति चुन ले। महाभारत में यह विधान है।[४]

आठ प्रकार के विवाह—विवाह के आठ प्रकार का विधान मिलता है।

---

१ शल्य ५२।६ ८।

२ विमर्श युवतीं भर्त्रे न चना मप्रयच्छसि। वन २९३।४
अप्रदाता पिता वाच्य। वन २९२।३५

३ यदर्भीं तु तथायुक्त। युवर्त प्रेक्ष्य च पिता।
मनसा चिन्तयामास कस्मै दद्यामिमां सुताम॥ वन ९६।३०

४ त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत कन्या ऋतुमती सती।
चतुर्थे त्वथ सम्प्राप्ते स्वयं भर्तारमर्जयेत॥ अनु ४४।१६

जैसे—ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, असुर, गान्धर्व, राक्षस एवं पैशाच। स्वयम्भुव (आदिमनु) ने इन आठ प्रकार के विवाहों की व्यवस्था की थी।[1]

ब्राह्म—वर की विद्या, बुद्धि, वंश आदि के बारे में विशेष रूप से पता लगाकर सद्वंशज, सच्चरित्र वर को कन्या को गरम करके यदि कन्या सम्प्रदान करें तो वह विवाह 'ब्राह्म' होता है।[2]

दैव—यज्ञ में वृत ऋत्विक को यदि कन्यादान की जाय, तो उस विवाह को दैव कहते हैं।[3] (राजा लोमपाद ने दैवविधान से ऋष्यशृंग के साथ शान्ता का विवाह किया था।)

आर्ष—कन्या के शुल्क रूप में वर से दो गायें लेकर कन्यादान करने को 'आर्ष' विवाह कहते हैं।[4]

प्राजापत्य—वर को धनसम्पत्ति से सन्तुष्ट करने के बाद यदि उसे कन्यादान की जाय, तो उस विवाह को 'प्राजापत्य' के नाम से जानना चाहिए।[5]

आसुर—कन्यादाता को बहुत सा धन देकर या कन्या के परिवार वालों को नाना प्रकार से प्रलोभित करके यदि कन्या ग्रहण की जाय, तो उसे आसुर विवाह कहेंगे।[6]

गान्धर्व—वर व कन्या के परस्पर प्रणय के फलस्वरूप जो विवाह सम्पादित हो उसका नाम गान्धर्व विवाह है। दूसरी जगह कहा गया है कि कामी पुरुष यदि सकामा कुमारी के साथ एकान्त में संगम करे तो वह मिलन ही गान्धर्व विवाह है।[7]

---

१ अष्टावेव समासेन विवाहा धर्मतः स्मृताः। इत्यादि। आदि ७३।८, ९।१०२। १२ १६।
२ शीलवृत्ते समाज्ञाय विद्यां योनिं च कर्म च। इत्यादि। अनु ४४।३, ४
३ ऋत्विजे विततं कर्मणि दद्यादलंकृता स दैवः। अनु ४४।४ (नीलकण्ठ)
४ आर्षे गोमिथुनं शुल्कम्। अनु ४५।२०
गोमिथुनं दत्त्वापयच्छेत् स आर्षः। अनु ४४।४ (नीलकण्ठ)।
५ यो दद्यादनुकूलतः। अनु ४४।४ (नीलकण्ठ)।
६ धनेन बहुधा क्रीत्वा सम्प्रलोभ्य च बान्धवान्। इत्यादि। अनु ४४।७
७ अभिप्रेता च या यस्य तस्मै देया युधिष्ठिर।
गान्धर्वमिति तं धर्मं प्राहुर्धर्मविदो जनाः॥ अनु ४४।६
सा त्वं मम सकामस्य सकामा वरवर्णिनि।
गान्धर्वेण विवाहेन भार्या भवितुमर्हसि॥ आदि ७३।१८, २७

राक्षस—कन्याकर्त्ता के कन्याप्रदान में असम्मत होने पर भी उद्धत परिणता यदि कन्यापक्ष वालों पर अमानुषिक अत्याचार करके सिर पीटती और रोती बिलखती कन्या को बलपूर्वक ले जाता है तो उस विवाह का राक्षस विवाह कहते हैं।[1]

पैशाच—सुप्त अथवा प्रमत्त कन्या के साथ बलात्कारपूर्वक रमण करने का नाम पैशाच विवाह है।[2]

विवाह का धर्म अधर्म—उपर्युक्त विवाहों में ब्राह्म दैव व प्राजापत्य ये तीन धर्मसम्मत हैं। आर्ष व असुर विवाह में कन्याकर्त्ता वर से धन ग्रहण करता है इसलिए ये दोनों विवाह धर्मसम्मत नहीं हैं। विशेषतः असुर विवाह अत्यन्त निन्दनीय है। गान्धर्व एवं राक्षस विवाह उतने प्रशस्त न होते हुए भी क्षत्रियों के लिए अधर्मकारक नहीं है। पैशाच विवाह सर्वथा परित्याज्य है।[3]

जातिविशेष में विवाह के प्रकारभेद—अन्यत्र कहा गया है कि ब्राह्म दैव आर्ष एवं प्राजापत्य विवाह ब्राह्मणों के लिए प्रशस्त हैं। क्षत्रियों के लिए ये चार एवं गान्धर्व और राक्षस विवाह प्रशस्त हैं। वैश्य और शूद्र के लिए असुर विवाह भी निन्दनीय नहीं है। पैशाच विवाह का शास्त्र समर्थन नहीं करता। राक्षस विवाह भी किसी अन्य प्रशस्त विधान के साथ मिश्रित होने पर निन्दनीय नहीं है।[4]

मिश्रित विवाह विधि—उल्लिखित आठ विवाह विधियों में से कोई एक बिल्कुल विशुद्ध रूप से हमेशा समाज में पूर्ण नहीं होती थी। कभी कभी देखा गया है कि एक ही विवाह में दो विधान मिश्रित हुए हैं। दमयन्ती के स्वयंवर में ब्राह्म एवं गान्धर्व विवाह मिश्रित थे। रुक्मिणी का विवाह राक्षस व गान्धर्व मिश्रित था, सुभद्रा के विवाह में राक्षस व प्राजापत्य विधियाँ मिश्रित थीं।[5]

गान्धर्व व राक्षस विधि को लोग कोई बहुत अच्छा नहीं समझते थे—गान्धर्व और राक्षस विवाह के क्षत्रियों में काफी प्रचलित होते हुए भी लोगों की दृष्टि में

---

१ हत्वा छित्वा च शीर्षाणि रुदतां रुदतां गृहात्।
प्रसह्य हरणं तात राक्षसो विधिरुच्यते॥ अनु ४४।८
२ अनु ४४।८ (नीलकंठ)। आदि ७३।९ (नीलकंठ)।
३ पञ्चानां तु त्रयो धर्म्या द्वावधर्म्यौ युधिष्ठिर।
पैशाचश्चासुरश्चैव न कर्त्तव्यौ कथञ्चन॥ अनु ४४।९। आदि ७३।११
४ प्रशस्तांश्चतुर पूर्वान् ब्राह्मणस्योपधारय। इत्यादि। आदि ७३।१० १३
प्रसह्य हरणञ्चापि क्षत्रियाणां प्रशस्यते। आदि २०९।२२, १०२।१६
५ अनु ४४।१० (नीलकंठ)।

वह निंदनीय ही माना जाता था। एकमात्र पात्र व पात्री का परस्पर मिलन होते ही गाधर्व विवाह सम्पन्न हो जाता था। किसी के भी अभिभावक की सम्मति की आवश्यकता नहीं होती थी। और राक्षस विवाह एकमात्र वर की इच्छा व दहिक बल पर आधारित था। माजिन भाषा म उसे राक्षस विवाह कहने पर भी वह प्रथा एक प्रकार से गुडई म गण्य थी। इसी कारण शायद समाज म काफी लोग उन्हें बहुत पसन्द नहीं करते थे। स्वयवर प्रथा भी काफी अंशों म गाधर्व विवाह जैसी ही है। इसलिए स्वयवर को भी सब लोग प्रशस्त पद्धति म नहीं गिनते थे।[1]

समाज मे गाधर्व व राक्षस विधि का प्रसार—समाज म ऊचे आदर्शों के बीच स्थान न मिलने पर भी गाधर्व विवाह का वर्णन ही अधिक मिलता है। भ्राता विचित्रवीर्य के लिए भीष्म द्वारा काशिराज की कन्या का हरण, दुर्योधन का चित्रागद कन्या का हरण, अर्जुन का सुभद्राहरण एव कृष्ण का रुक्मिणीहरण राक्षस विधान के अन्तर्गत ही आते हैं। दूसरा म अन्य विधानों के मिश्रित होते हुए भी भीष्म का हरण तो केवल शारीरिक बल ही प्रकट करता है।

ब्राह्मविधान ही सर्वापेक्षा प्रशस्त—ब्राह्मविधान दूसरे विधानों से श्रेष्ठ समझा जाता था। कहा गया है कि जो ब्राह्मविधान से कन्यादान करते हैं वे इस लोक म दास दासी क्षेत्र अलकार आदि उपभोग्य वस्तुओं को प्राप्त करते हैं एव मृत्यु के बाद स्वर्गलोक मे वास करते हैं।[2]

विवाह म शास्त्रीय विधि निषेध—कौन सी कन्या विवाह के योग्य है कौन सी अयोग्य इस विषय म अनेक प्रकार के विधि निषेध महाभारत म वर्णित हैं। वर के सबध म भी दो चार बातें मिलती हैं। कन्या विवाह योग्य है या नहीं, इसका निर्णय करने के लिए शारीरिक शुभाशुभ लक्षणों को भी देखने का नियम था। बाहरी तौर पर शुभलक्षणा दिखाई देने वाली कन्या शास्त्रानुसार विवाह योग्य है कि नहीं इस पर भी ऋषि वचनों के अनुसार अच्छी तरह विचार करना पडता था। लोगों की धारणा थी कि शास्त्रीय निषेध अमान्य करने पर या तो विवाह म कोई बाधा नहीं पडेगी लेकिन निषेध का उल्लघन करने से वर व कन्या दुर्भाग्यग्रस्त रहेंगे और ऐहिक व पारलौकिक श्रेय प्राप्ति म नाना प्रकार के विघ्न आयेंगे।

---

१ एतत्तु नापरे चक्रुरपरे जातु साधव । अनु ४५।५

२ यो ब्रह्मदेयां तु ददाति कन्यान। वन १८६।१५
दासी दासमलंकारान क्षेत्राणि च गृहाणि च।
ब्रह्मदेयां सुतां दत्वा प्राप्नोति मनुजर्षभ॥ अनु ५७।२५